RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 **अंक - 3** **जून-जुलाई-अगस्त-2025**

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परम्परा में वैदिक अर्थव्यवस्था

भावना जैन

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वैदिक अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान :

वैदिक काल की अर्थ-व्यवस्था मूलत: कृषि पर आधारित थी। मानव-जीवन का आधार अन्न माना गया है और अन्न की प्राप्ति का प्रमुख साधन कृषि है। इसी कारण वैदिक साहित्य में कृषि को केवल जीविका का साधन नहीं, बल्कि जीवन और समाज की समृद्धि का मूल आधार स्वीकार किया गया है। कृषि के लिए भूमि और पर्जन्य अर्थात् वर्षा की अनिवार्यता को समझते हुए अथर्ववेद में भूमि और वर्षा दोनों को नमस्कार किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज प्रकृति और मनुष्य के परस्पर आश्रित संबंध को भली-भाँति समझता था।

कृषि को गौरवपूर्ण कर्म माना जाता था। यही कारण है कि इन्द्र और पूषा जैसे देवताओं को कृषि-कार्य से जोड़ा गया है। ऋग्वेद में स्पष्ट निर्देश मिलता है कि द्यूत जैसे दुर्गुणों को त्यागकर सुख और समृद्धि के लिए कृषि कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। यजुर्वेद में राजा के चार प्रमुख कर्तव्यों का उल्लेख है, जिनमें कृषि की उन्नति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। जन-कल्याण, राष्ट्र की श्रीवृद्धि और राष्ट्र को सुदृढ़ बनाना तभी संभव था जब कृषि समृद्ध हो। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक राजनीतिक चिंतन में भी कृषि को अर्थ-व्यवस्था की धुरी माना गया।

शतपथ ब्राह्मण में कृषि-कर्म का अत्यंत व्यवस्थित और वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। इसमें संपूर्ण कृषि प्रक्रिया को कर्षण, वपन, लवन और मर्दन—इन चार चरणों में विभाजित किया गया है। खेत की जुताई से लेकर बीज बोने, फसल काटने और मड़ाई द्वारा स्वच्छ अन्न प्राप्त करने तक का यह क्रम वैदिक काल में कृषि-तकनीक की स्पष्ट समझ को दर्शाता है।

वैदिक परंपरा में कृषि-विद्या के आविष्कारक के रूप में राजा पृथु का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनुसार वे राजा वेन के पुत्र थे और उन्होंने कृषि-विद्या के माध्यम से अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन किया। महाभारत के शान्तिपर्व और भागवतपुराण में भी इस परंपरा की पुष्टि होती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में कृषि-कर्म से संबंधित अनेक सूक्त मिलते हैं, जिनमें खेत की स्वच्छता, उत्तम बैलों और हल का प्रयोग, श्रेष्ठ बीजों का चयन, अनुकूल ऋतु में बुवाई, समय पर सिंचाई-निराई तथा फसल पकने पर कटाई-मड़ाई जैसे व्यावहारिक निर्देश दिए गए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक कृषि केवल धार्मिक आस्था पर नहीं, बल्कि अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित थी।

भूमि के प्रकारों का भी वैदिक ग्रंथों में विस्तार से उल्लेख है। अथर्ववेद, यजुर्वेद और तैत्तिरीय

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

संहिता में भूमि को उर्वरा, इरिण और शष्य जैसे भेदों में वर्गीकृत किया गया है। इससे भूमि की गुणवत्ता और उसके उपयोग की समझ का परिचय मिलता है। इसी प्रकार मिट्टी के विभिन्न प्रकारों का भी सूक्ष्म वर्णन मिलता है, जैसे चिकनी मिट्टी, सामान्य मिट्टी, पत्थरयुक्त भूमि, कंकड़युक्त भूमि, उपजाऊ और अनुपजाऊ मिट्टी तथा बालू वाली मिट्टी। यह वर्गीकरण कृषि-योग्यता के आधार पर किया गया था, जो वैदिक समाज की वैज्ञानिक दृष्टि को दर्शाता है।

कृषि के प्रकारों की चर्चा में वर्षा पर निर्भर कृषि और वर्षा पर निर्भर न रहने वाली, अर्थात् कुएँ, तालाब और नहरों से सिंचित कृषि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त जुते खेत में उत्पन्न अन्न और बिना जुती भूमि में उत्पन्न अन्न का भेद भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में कृषि के विविध रूप प्रचलित थे और प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाता था।

सिंचाई के साधनों के रूप में वर्षा के अतिरिक्त नहरें, नदियाँ, तालाब और कुओं का उल्लेख मिलता है। यह तथ्य वैदिक समाज की जल-प्रबंधन व्यवस्था की उन्नत स्थिति को दर्शाता है। फसलों के संदर्भ में तैत्तिरीय संहिता में शारदीय और वासन्ती फसलों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें आज खरीफ और रबी कहा जाता है। इसके साथ-साथ विभिन्न ऋतुओं में कटने वाली फसलों और उनके अन्नों का क्रमबद्ध वर्णन भी मिलता है, जैसे जौ, औषधियाँ, चावल, माष और तिल।

अन्नों की विविधता वैदिक अर्थ-व्यवस्था की समृद्धि को दर्शाती है। यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चना, कंगुनी, पतला चावल, सावा, कोदों, गेहूँ और मसूर जैसे बारह अन्नों का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज का आहार विविध और पोषण-सम्पन्न था।

खाद या उर्वरक के संदर्भ में भी वैदिक ग्रंथों में महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद में 'क्षेत्रसाधस्' शब्द का प्रयोग खेत की उर्वरता बढ़ाने वाले तत्व के लिए किया गया है। खाद के रूप में पशुओं के गोबर का प्रयोग होता था, जिसे करीष, शकन् और शकृत् कहा गया है। यद्यपि 'गोमय' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि यह स्पष्ट है कि पशुपालन और कृषि का गहरा संबंध था।

कृषिनाशक तत्त्व तथा कृषि-संबद्ध शब्द :

वैदिक साहित्य में कृषि को नष्ट करने वाले तत्त्वों को 'इति' कहा गया है। अथर्ववेद में इन कृषिनाशक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्राकृतिक कारणों में अतिवृष्टि और अनावृष्टि प्रमुख हैं। अत्यधिक वर्षा के समय बिजली गिरने से फसल नष्ट होती है, जबकि वर्षा के अभाव में सूर्य की तीव्र धूप खेतों को शुष्क बना देती है। इसी प्रकार तीव्र धूप और हिमपात भी कृषि के लिए विनाशकारी माने गए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संतुलित ऋतु और अनुकूल मौसम को वैदिक काल में कृषि के लिए अनिवार्य समझा जाता था।

जीव-जंतुओं में आखु अर्थात् चूहे को प्रमुख कृषिनाशक माना गया है और उसे मारने का निर्देश भी मिलता है। इसके अतिरिक्त तर्द, पतंग, जभ्य और उपक्वस जैसे कीट-पतंग फसलों को नष्ट करते थे। पतंग अर्थात् टिड्डी के प्रकोप का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में 'मटची' नाम से हुआ है और एक प्रसंग में पूरे कुरु जनपद की खेती के नष्ट होने का उल्लेख मिलता है।

कृषि से संबद्ध शब्दावली वैदिक कृषि-प्रणाली की उन्नत अवस्था को दर्शाती है। किसान के लिए 'कीनाश' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हल को लांगल और सीर कहा गया है, उसके नुकीले भाग के लिए सीता और फाल शब्द मिलते हैं। हल के अन्य अंगों के लिए शुनासीर, ईषा, युग और वरत्रा जैसे शब्द हैं। बैल को वाह कहा गया है और कटाई के उपकरण के रूप में दात्र तथा सृणि अर्थात् दराँती का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद और काठक संहिता में अनेक जूओं और बैलों से युक्त हलों का वर्णन मिलता है, जो उस काल की विकसित कृषि-प्रणाली का परिचायक है।

पशुपालन :

ऋग्वेद और अथर्ववेद में पशुपालन तथा पशु-संवर्धन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। प्राचीन काल में भारत ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व में पशु-संपदा को वैभव और समृद्धि का प्रतीक समझा जाता था। दैनिक जीवन में दूध, दही, घी और मक्खन जैसी आवश्यक वस्तुएँ पशुओं से प्राप्त होती थीं। कृषि-कार्य, यातायात और भार-वहन के लिए बैल, अश्व आदि अनिवार्य थे तथा यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में गायों की विशेष आवश्यकता होती थी। इसीलिए पशुपालन सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्व का विषय था।

इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए गोष्ठ, गोशाला और व्रज की स्थापना की गई। व्रज घिरे हुए बाड़े होते थे, जिनमें गाय, बैल, भैंस, घोड़े, भेड़ और बकरी आदि पशु रहते थे। ऋग्वेद में व्रज बनाने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि यह दुग्धादि प्रदान कर मानव की खाद्य और पेय आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। गोशालाओं के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि वहाँ पशुओं के बैठने, दाना-पानी, प्रकाश और सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था हो, वे निर्भय रहें, रोगमुक्त हों, हृष्ट-पुष्ट बनें और उनकी संख्या बढ़ती रहे।

पशु-संवर्धन के संदर्भ में वेदों में उचित चारे, शुद्ध जल, स्वच्छ वायु, सूर्य-प्रकाश और खुले वातावरण पर विशेष बल दिया गया है। पशुओं की सुरक्षा से दूध-घी की प्राप्ति और पशुधन की वृद्धि होती है तथा जहाँ पशुओं का संरक्षण होता है, वहाँ धन-धान्य और श्री की वृद्धि मानी गई है।

वेदों में गाय की विशेष महिमा गाई गई है। गाय को विराट् ब्रह्म का प्रतीक, सौभाग्य का चिह्न और 'अघ्न्या' अर्थात् अवध्य कहा गया है। उसमें वर्चस्, तेज, ऐश्वर्य, यश और दूध जैसे गुणों का समावेश बताया गया है। पहचान के लिए गायों के कानों पर चिन्ह लगाने की परंपरा का भी उल्लेख मिलता है।

पशु-हत्या को वेदों में दंडनीय अपराध माना गया है। यजुर्वेद और ऋग्वेद में पशुओं को निर्भय रखने, गो-हत्या करने वालों के सामाजिक बहिष्कार तथा द्विपाद और चतुष्पाद जीवों की हत्या न करने का स्पष्ट निर्देश है।

पशु-संपदा की उपयोगिता बहुआयामी थी। पशुओं से दुग्ध-उत्पाद, कृषि-सहायता, भार-वहन, रथ-संचालन, युद्ध, ऊन और चर्म-उद्योग, खाद तथा सवारी के साधन प्राप्त होते थे। इस प्रकार वैदिक समाज में पशुपालन आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन की सुदृढ़ आधारशिला था।

विभिन्न उद्योग :

वेदों में लगभग 140 प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, जिससे वैदिक अर्थ-व्यवस्था की व्यापकता और विविधता स्पष्ट होती है। प्राचीन काल में शिल्प और उद्योग को सम्मान की दृष्टि से देखा

जाता था। रथकार और कर्मार जैसे कारीगरों को राजकीय महत्त्व प्राप्त था। ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि एक ही परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते हुए परस्पर सौहार्द से रहते थे, जिससे श्रम-विभाजन और सामाजिक सहयोग की परंपरा का बोध होता है। अथर्ववेद में शिल्पियों की आर्थिक स्थिति को समृद्ध बताया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उद्योगों को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

वस्त्र उद्योग वैदिक काल का एक प्रमुख और सुविकसित उद्योग था। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का निर्माण होता था तथा बुनाई का कार्य स्त्रियाँ और पुरुष दोनों करते थे। वेदों में करघे, ताना-बाना और बुनाई की तकनीक से संबंधित अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जो वस्त्र-निर्माण की उन्नत अवस्था को दर्शाते हैं।

लकड़ी के कार्य से जुड़े रथकार, तक्षन् और त्वष्टा जैसे बढ़ई रथ, गाड़ियाँ और अन्य उपकरण बनाते थे तथा उन पर नक्काशी भी करते थे। लोहारों को कर्मार कहा जाता था, जो लोहे और अन्य धातुओं के बर्तन तथा शस्त्र-अस्त्र बनाते थे। इससे धातु-प्रौद्योगिकी और भट्टियों के ज्ञान का संकेत मिलता है।

यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में यान्त्रिकों और विविध यन्त्रों का उल्लेख है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में यांत्रिक ज्ञान भी विद्यमान था। भवन-निर्माण करने वाले स्थपति या मिस्त्री उच्च कोटि के निर्माण कार्य करते थे। सुनार, मणिकार और चर्मकार जैसे उद्योग आभूषण और चमड़े से संबंधित वस्तुओं के निर्माण में संलग्न थे।

इसके अतिरिक्त कढ़ाई, सिलाई, रंगाई, सुरमा निर्माण, मधु-निर्माण, चीनी और सुरा-निर्माण जैसे उद्योग भी प्रचलित थे। नाई, धोबी, वैद्य, ज्योतिषी और न्यायाधीश जैसे व्यवसाय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। कला के क्षेत्र में नृत्य, संगीत और वाद्य-निर्माण का विशेष स्थान था।

व्यापार को भी एक व्यापक उद्योग माना गया है और व्यापारी वर्ग समाज में सक्रिय था। यद्यपि द्यूत या जुआ भी आजीविका का साधन बना लिया गया था, परंतु वेदों में इसे दुर्व्यसन मानकर त्यागने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार वैदिक काल के उद्योग न केवल आर्थिक गतिविधियाँ थे, बल्कि सामाजिक संगठन, तकनीकी ज्ञान और सांस्कृतिक विकास के भी सशक्त आधार थे।

व्यापार और वाणिज्य :

कृषि और उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं के क्रय-विक्रय का प्रमुख साधन व्यापार था। वेदों में व्यापारी के लिए वणिक् और वाणिज शब्द मिलते हैं। अथर्ववेद में वाणिज्य से संबद्ध मंत्रों में व्यापार को धनदा अर्थात् समृद्धि का साधन बताया गया है। खरीद के लिए पण, प्रपण और क्रय, जबकि विक्रय के लिए विक्रय और प्रतिपण शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मूल्य के लिए वस्न, शुल्क और निहार शब्द मिलते हैं।

वेदों से ज्ञात होता है कि व्यापार का आधार मुख्यत: वस्तु-विनिमय था, यद्यपि बहुमूल्य वस्तुएँ मूल्य देकर भी खरीदी जाती थीं। यजुर्वेद में आदान-प्रदान की भावना स्पष्ट है। औषधियाँ, सोम, वस्त्र, मृगचर्म और पशु आदि से वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। मूल्य-निर्धारण के विषय में ऋग्वेद में यह सिद्धांत मिलता है कि बिक्री के समय जो मूल्य तय हो जाए, वही अंतिम और मान्य होता है।

अथर्ववेद में व्यापार की सफलता के लिए चरित्र की शुद्धता, उत्साह और दृढ़निश्चय, दूरस्थ वस्तुओं का क्रय कर संग्रह करना, अवसरानुकूल सूझबूझ तथा सीमित लोभ पर बल दिया गया है। मिलावट को

दंडनीय अपराध माना गया है और राजा द्वारा दंड का उल्लेख भी मिलता है।

व्यापार स्थल, जल और समुद्री मार्गों से होता था। स्थल-व्यापार में रथ, बैलगाड़ी और विभिन्न पशुओं का उपयोग होता था। जलमार्ग से नौकाओं द्वारा व्यापार किया जाता था। वैदिक काल में समुद्री व्यापार भी प्रचलित था; बड़े पोतों के दीर्घ यात्राओं पर जाने और लगातार दिनों तक चलने का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद में आकाशीय मार्गों का भी संकेत मिलता है, जहाँ आकाश में चलने वाले रथों और नौकाओं का वर्णन है। यद्यपि इनके व्यापारिक उपयोग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि आकाशीय यात्रा की कल्पना और ज्ञान से परिचित थे।

मुद्राएँ (सिक्के) :

वेदों से यह स्पष्ट होता है कि व्यापार और वाणिज्य के लिए केवल वस्तु-विनिमय ही नहीं, बल्कि सिक्कों का भी प्रचलन था। यद्यपि प्रारम्भ में ये सिक्के आभूषण के रूप में प्रयुक्त होते थे, परंतु कालांतर में इनका उपयोग मुद्रा के रूप में होने लगा।

ऋग्वेद में निष्क का उल्लेख सुवर्ण के आभूषण के रूप में मिलता है, जिसे गले में धारण किया जाता था और निष्क धारण करने वाले को 'निष्कग्रीव' कहा जाता था। अथर्ववेद में सौ निष्क का उल्लेख दो बार हुआ है और उन्हें सोने का बताया गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि निष्क केवल आभूषण ही नहीं, बल्कि मुद्रा के रूप में भी प्रचलित था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से निष्क को स्वर्ण-सिक्का कहा गया है।

रुक्म भी स्वर्ण का आभूषण था, जिसे छाती पर पहना जाता था और पहनने वाले को 'रुक्मवक्षस्य' कहा जाता था। अथर्ववेद में 'पाँच रुक्म' का उल्लेख अन्य वस्तुओं के साथ हुआ है, जिससे यह अनुमान होता है कि रुक्म भी विनिमय की इकाई था। विद्वानों के अनुसार यह सोने का सिक्का रहा होगा, जो अशर्फी के समान था।

शतपथ ब्राह्मण में स्वर्ण के लिए शतमान शब्द आया है। सायण के अनुसार शतमान सौ रत्ती का स्वर्ण-सिक्का था, जिसे आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। तैत्तिरीय संहिता में कृष्णल या रत्ती को तोल की इकाई माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शतमान सिक्के की गणना कृष्णल के आधार पर होती थी। शतपथ ब्राह्मण में चाँदी के शतमान सिक्कों का भी उल्लेख मिलता है।

कार्षापण, जिसे संक्षेप में पण कहा जाता था, चाँदी का सिक्का था और प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित था। इसकी तोल 32 रत्ती मानी जाती थी।

ऋणदान और ब्याज :

अथर्ववेद के तीन सूक्तों में ऋण देने-लेने की चर्चा मिलती है, जहाँ ऋण को जीवन के लिए कष्टदायक बताया गया है। ऋणग्रस्त व्यक्ति की सामाजिक और मानसिक हानि का उल्लेख करते हुए अनृण अर्थात् ऋणमुक्त रहना सर्वोत्तम स्थिति मानी गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में आर्थिक आत्मनिर्भरता को आदर्श माना जाता था।

अथर्ववेद में 'अपमित्य' ऋण का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार का ऋण वह होता था जिसमें धान्य या द्रव्य इस शर्त पर लिया जाता था कि उसी प्रकार की वस्तु लौटाकर ऋण चुकाया जाएगा। कौटिल्य ने ऐसे ऋण को 'आपमित्यक' कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि ऋण-व्यवस्था में स्पष्ट शर्तें और नियम प्रचलित थे।

ब्याज के संदर्भ में अथर्ववेद में 'कला' और 'शफ' शब्द आए हैं। कला का अर्थ सोलहवाँ भाग अर्थात् 1/16 और शफ का अर्थ आठवाँ भाग अर्थात् 1/8 है। इससे अनुमान होता है कि सामान्य रूप से सवा छह प्रतिशत ब्याज लिया जाता था और अधिकतम ब्याज साढ़े बारह प्रतिशत तक सीमित था।

ऋग्वेद में धूर्त और अत्यधिक सूदखोरी करने वाले व्यापारियों की निंदा की गई है और उन्हें 'बेकनाट' कहा गया है। यास्क के अनुसार बेकनाट वे सूदखोर थे, जो धन को अनुचित रूप से दुगुना करने का प्रयास करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में अनुचित लाभ और अत्यधिक ब्याज को नैतिक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं माना जाता था।

निष्कर्षत: वैदिक अर्थ-व्यवस्था का आधार कृषि और पशुपालन था। भूमि, वर्षा, बीज, हल और सिंचाई के वैज्ञानिक निर्देश मिलते हैं। राजा पृथु को कृषि-विद्या का आविष्कारक माना गया। पशुपालन सामाजिक और धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग था; गोष्ठा और व्रज में गाय, बैल, भैंस आदि पाले जाते थे। गाय को अवध्य और सौभाग्य का प्रतीक माना गया। वस्त्र, धातु, लकड़ी, चमड़ा, मधु, सुरा, रंगाई, नाई, धोबी, वैद्य और न्यायालय जैसे उद्योग समाज की आर्थिक और तकनीकी प्रगति के साधन थे। व्यापार और वाणिज्य वस्तु-विनिमय और मुद्रा आधारित थे। स्थल, जल और समुद्री मार्गों का प्रयोग होता था। निष्क, रुक्म, शतमान और कार्षापण जैसी मुद्राएँ प्रचलित थीं। ऋण और ब्याज व्यवस्था में अपमित्यक ऋण और ब्याज (कला 1/16, शफ 1/8) का प्रचलन था। अत्यधिक सूदखोरी और अनुचित लाभ को वेदों में निंदनीय माना गया। अत: वैदिक अर्थ-व्यवस्था कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार, मुद्रा और ऋण-ब्याज पर आधारित थी, जो सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन का संतुलित आधार प्रदान करती थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *उपाध्याय, रामकृष्ण, अथर्ववेद: आर्थिक दृष्टि से अध्ययन, संस्कृत साहित्य संस्थान, वाराणसी, 2008*
2. *त्रिपाठी, गोवर्धन, वैदिक समाज और कृषि व्यवस्था, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, दिल्ली, 2012*
3. *शर्मा, हरिदत्त, वैदिक अर्थव्यवस्था: सामाजिक और आर्थिक संरचना, ज्ञानभवन प्रकाशन, लखनऊ, 2010*
4. *मिश्रा, के.एल., प्राचीन भारतीय कृषि प्रणाली, राजस्थान विश्वविद्यालय प्रकाशन, जयपुर, 2005*
5. *भट्ट, नारायण, अर्थशास्त्र और वैदिक नीति, हिंदी अकादमी, दिल्ली, 2009*
6. *पांडेय, रामेश्वरद्व, वैदिक कृषि विज्ञान, हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस, 2007*